स्वामी आत्मानंद एवं अन्य

बनाम

श्री रामकृष्ण तपोवनम् एवं अन्य

13 अप्रैल, 2005

[बी.पी. सिंह और एस.बी. सिन्हा, न्यायमूर्तिगण]

शिक्षा:

तमिलनाडु मान्यता प्राप्त निजी स्कूल (विनियमन) अधिनियम, 1973—धारा 53 और 53 ए—अधिनियम के अधीन किसी निजी स्कूल के संबंध में "शैक्षणिक एजेंसी" के रूप में विवाद का निपटारा—यह प्रश्न कि क्या वादीगण या प्रतिवादीगण "शैक्षणिक एजेंसियां" थे—दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार—अधिनिर्णित: वर्जित नहीं है—दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908—धारा 9—विधिक सूक्तियां—विधिक सूक्ति 'उबी जुस इबी रेमेडियम'- जहाँ अधिकार है, वहाँ उपचार है)।

दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908:

वाद हेतुक —का अर्थ—अधिनिर्णित: यह तथ्यों का एक ऐसा संग्रह है, जिसे उन पर लागू होने वाली विधि के साथ मिलाकर देखने पर वादी को प्रतिवादी के विरुद्ध उपचार का अधिकार प्राप्त होता है—इसमें प्रतिवादी द्वारा किया गया कोई ऐसा कार्य अवश्य सम्मिलित होना चाहिए, क्योंकि ऐसे कार्य के अभाव में किसी वाद हेतुक का प्रोद्भूत होना संभव नहीं है—यह केवल उस अधिकार के वास्तविक उल्लंघन तक ही सीमित नहीं है जिसके लिए वाद लाया गया है, बल्कि इसमें वे सभी महत्वपूर्ण तथ्य सम्मिलित हैं जिन पर यह आधारित है।

धारा 11—'प्राङ्न्याय' का सिद्धांत—का उद्देश्य और प्रयोजन—अधिनिर्णित: इसका उद्देश्य

उन्हीं पक्षकारों के बीच प्रत्येक पश्चात्वर्ती वाद में, तथ्य के, या विधि के, अथवा तथ्य और विधि के पहले तय किए जा चुके बिंदुओं के संबंध में निर्णय की निश्चायकता के नियम को बनाए रखना है—इस सिद्धांत की परिकल्पना न केवल व्यापक लोक हित में की गई है बल्कि यह साम्या, न्याय और अच्छे अंतःकरण पर भी आधारित है।

प्रथम अपीलकर्ता द्वारा संस्थित एक वाद में यह प्रश्न उठा कि क्या तमिलनाडु मान्यता प्राप्त निजी स्कूल (विनियमन) अधिनियम, 1973 के उपबंधों के निबंधनों में प्रथम अपीलकर्ता या प्रथम उत्तरदाता 'शैक्षणिक एजेंसी' था। वाद को इस निष्कर्ष पर खारिज कर दिया गया कि प्रथम अपीलकर्ता, प्रथम उत्तरदाता का एक अभिकर्ता था और प्रथम उत्तरदाता ही प्रश्नगत स्कूलों का स्वामी और शैक्षणिक एजेंसी था। इसके विरुद्ध की गई उत्तरोत्तर अपीलों और पुनर्विलोकन याचिका को भी खारिज कर दिया गया। इस बीच, उच्च न्यायालय के समक्ष कार्यवाही के लंबित रहने के दौरान, प्रथम उत्तरदाता ने अपीलकर्ताओं और 13 अन्य के विरुद्ध एक वाद दायर कर यह घोषणा मांगी कि वह वर्णित संस्थाओं के संबंध में पूर्ण स्वामी और 'शैक्षणिक एजेंसी' था। वाद को इस आधार पर डिक्रीत किया गया कि पूर्ववर्ती वाद में प्रथम अपीलकर्ता को प्रथम उत्तरदाता का अभिकर्ता मानने वाला निष्कर्ष अपीलकर्ताओं पर बाध्यकारी था, इसलिए इस पर *प्राङ्न्याय* **का सिद्धांत लागू होगा।**

इस न्यायालय के समक्ष अपील में, विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या तमिलनाडु मान्यता प्राप्त निजी स्कूल (विनियमन) अधिनियम, 1973 की धारा 53 और 53ए को देखते हुए दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार वर्जित थी, और पूर्ववर्ती वाद में पारित निर्णय एक शून्य था, और परिणामस्वरूप *प्राङ्न्याय* **का सिद्धांत लागू नहीं होता था।**

अपीलों को खारिज करते हुए, न्यायालय ने

अधिनिर्णित : 1. यह ऐसा मामला नहीं है जहाँ पर्याप्त अभिवचन उपलब्ध नहीं थे।

इसके विपरीत, यह एक ऐसा मामला है जहाँ दस्तावेज़ों के साथ-साथ पिछले वाद में दिए गए निर्णय को भी अभिलेख पर लाया गया था। निर्णय में अभिवचनों के कथनों और विवादकों के व्यापक विवरण सम्मिलित थे जो *प्राङ्न्याय* **के अभिवाक को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माने जा सकते थे। [570-जी-एच; 571-ए]**

2. हालांकि, यह किसी भी संदेह या विवाद से परे है कि यदि किसी न्यायालय में अंतर्निहित क्षेत्राधिकार का अभाव है, तो उसका निर्णय शून्य होगा और इस प्रकार, प्राङ्न्याय का सिद्धांत, जो प्रक्रिया के क्षेत्र में आता है, लागू नहीं होगा। [572-ई]

मोहनलाल गोयनका बनाम बेनॉय कृष्ण मुखर्जी और अन्य, **(1953) एस.सी.आर. 377;** *अशोक लेलैंड लिमिटेड बनाम तमिलनाडु राज्य और अन्य,* **(2004) 3 एस.सी.सी. 1;** *मैनेजमेंट ऑफ मेसर्स सोनीपत को-ऑपरेटिव शुगर मिल्स लिमिटेड बनाम अजीत सिंह,* **(2005) 2 स्केल 151 : (2005) 3 एस.सी.सी. 232** और *ईश्वरदास बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य,* **ए.आई.आर. (1979) एस.सी. 551 पर अवलंबन लिया गया।**

मेसर्स आर.एन. गारेकर एंड कंपनी बनाम मेसर्स हिंदुस्तान वायर्स लिमिटेड, **ए.आई.आर. (1974) एस.सी. 303 और** *द वल्कन इंश्योरेंस कंपनी बनाम महाराज सिंह और अन्य,* **ए.आई.आर. (1976) एस.सी. 287, विभेदित।**

सुलोचना अम्मा बनाम नारायणन नायर, **(1994) 2 एस.सी.सी. 14;** *वी. राजेश्वरी (श्रीमती) बनाम टी.सी. सरवणभव,* **(2004) 1 एस.सी.सी. 551;** *भानु कुमार जैन बनाम अर्चना कुमार और अन्य,* **ए.आई.आर. (2005) एस.सी. 626 और** *नेदुनुरी कामेश्वरम्मा बनाम संपाती सुब्बा राव,* **ए.आई.आर. (1963) एस.सी. 884 का संदर्भ दिया गया।**

3. निर्विवाद रूप से, स्थावर संपत्ति पर स्वत्व के संबंध में किसी विवाद का अधिनिर्णयन केवल दीवानी न्यायालय में ही किया जाना होगा। तमिलनाडु मान्यता प्राप्त

निजी स्कूल (विनियमन) अधिनियम, 1973 की धारा 53 केवल यह उपबंधित करती है कि दीवानी न्यायालय को ऐसे किसी प्रश्न का विनिश्चय करने या उससे निपटने की क्षेत्राधिकार नहीं होगी, जिसे उक्त अधिनियम के द्वारा या अधीन उक्त अधिनियम में उल्लिखित किसी प्राधिकारी या अधिकारी द्वारा विनिश्चित किया जाना या निपटाया जाना अपेक्षित है। [573-जी-एच]

4.1. यह विवाद कि किसी निजी स्कूल के संबंध में वास्तविक 'शैक्षणिक एजेंसी' कौन है, ऐसा मामला नहीं है जो उक्त अधिनियम के उपबंधों के निबंधनों के अनुसार उक्त अधिनियम के उपबंधों के अधीन किसी प्राधिकारी द्वारा अवधारित किया जाए। अधिनियम की धारा 53ए उसकी धारा 53 का एक अपवाद सृजित करती है। उक्त उपबंध के निबंधनों के अनुसार, शैक्षणिक संस्था के संबंध में किसी भी विवाद को उसके विनिश्चय के लिए क्षेत्राधिकार रखने वाले दीवानी न्यायालय द्वारा अवधारित किया जाना है। [574-बी, सी]

4.2. किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध शिकायत रखने वाले व्यक्ति के पास एक उपचार अवश्य होना चाहिए। विधिक सूक्ति 'उबी जुस इबी रेमेडियम' अर्थात जहाँ अधिकार है, वहाँ उपचार है, कोई निरर्थक औपचारिकता नहीं है। दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार उक्त सिद्धांत को अनुकरणीय बनाती है। दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार को तब तक बेदखल नहीं माना जा सकता जब तक कि संविधि में ऐसा स्पष्ट रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा न कहा गया हो। अधिनियम की धारा 53ए के निबंधनों के अनुसार, यह स्वीकार्य रूप से अपेक्षित है कि शैक्षणिक एजेंसी के संबंध में किसी विवाद का विनिश्चय दीवानी न्यायालय द्वारा किया जाए। दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार को किस प्रकार आवाहित किया जाना अपेक्षित है, यह दीवानी न्यायालय द्वारा परीक्षित किया जाने वाला मामला है। किसी निजी अधिकरण या किसी कानूनी अधिकरण के विपरीत, जिसे तब तक क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं होती जब तक कि अधिनियम के उपबंधों के निबंधनों के अनुसार उसे कोई संदर्भ न किया जाए, दीवानी

न्यायालय को पूर्ण क्षेत्राधिकार प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त, यदि और जब सक्षम प्राधिकारी के समक्ष शैक्षणिक संस्थाओं के संबंध में किसी शैक्षणिक एजेंसी की स्वत्वदारी के संबंध में कोई विवाद उत्पन्न होता है, तो उसे भी दीवानी न्यायालय को निर्देशित किया जाना चाहिए। अधिनियम की धारा 5 के निबंधनों के अनुसार, विधिक प्राधिकारी के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसे ऐसे विवाद को अवधारित करने की कोई क्षेत्राधिकार प्राप्त है। जैसा कि सुविदित है, किसी संविधि को इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए ताकि उसके उपबंधों को प्रभावी बनाया जा सके। इसे तार्किक रूप से पढ़ा जाना चाहिए। किसी संविधि का निर्वचन इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे वह कार्यसाधक बन सके। इस प्रकार, "हितबद्ध व्यक्तियों द्वारा संदर्भित" शब्दावली का अर्थ ऐसे व्यक्ति से होगा जिसे शैक्षणिक संस्थाओं की शैक्षणिक एजेंसी से संबंधित दूसरी ओर के दावे के संबंध में कोई शिकायत है। ऐसा दीवानी न्यायालय के समक्ष वाद दायर करके किया जा सकता है। "व्यक्तियों" शब्द, जो कि बहुवचन है, का प्रयोग इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किया गया है कि शैक्षणिक एजेंसी का केवल एक व्यक्ति होना आवश्यक नहीं है, बल्कि इसमें सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत कोई सोसाइटी या कंपनी अधिनियम के निबंधनों के अनुसार कोई निगमित निकाय भी सम्मिलित हो सकता है। किसी भी स्थिति में, यदि धारा 53ए की परिकल्पना के भीतर ऐसे किसी विवाद का विनिश्चय किसी दीवानी न्यायालय द्वारा किया जाना है, तो यह धारा 53 के अधीन रोक को आकर्षित नहीं करेगा, जो केवल ऐसे प्रश्न पर लागू होती है जिसे अधिनियम में उल्लिखित किसी प्राधिकारी या अधिकारी द्वारा निपटाया जाना या विनिश्चित किया जाना अपेक्षित है। [574-ई-एच; 575-ए-बी]

जी.पी. सिंह द्वारा रचित 'प्रिंसिपल्स ऑफ स्टैटुटरी इंटरप्रिटेशन', नौवां संस्करण, पृष्ठ 630, का संदर्भ दिया गया।

5. वर्तमान मामला धुलाभाई मामले में प्रतिपादित सिद्धांतों को पूरा नहीं करता है और

अधिनियम की धारा 53 और 53ए के कारण दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार अपवर्जित नहीं हुई थी। [577-बी]

धुलाभाई और अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य, **(1968) 3 एस.सी.आर. 662;** *राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम और अन्य बनाम कृष्ण कांत और अन्य,* **(1995) 5 एस.सी.सी. 75;** *द्वारका प्रसाद अग्रवाल बनाम रमेश चंद अग्रवाल,* **(2003) 6 एस.सी.सी. 220;** *साहेबगौड़ा बनाम ओगेप्पा,* **(2003) 6 एस.सी.सी. 151 और** *ध्रुव ग्रीन फील्ड लिमिटेड बनाम हुकम सिंह,* **(2002) 6 एस.सी.सी. 416 पर अवलंबन लिया गया।**

मैथ सौना एवं अन्य बनाम केदार नाथ उर्फ उमा शंकर एवं अन्य, **ए.आई.आर. (1981) एस.सी. 1878, विभेदित।**

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार: 2000 की दीवानी अपील संख्या 2395.

मद्रास उच्च न्यायालय के ए.एस. संख्या 568/1998 में दिनांक 13.10.99 के निर्णय एवं आदेश से।

के साथ

2000 का दीवानी अपील संख्या 3740.

उपस्थित होने वाले पक्षकारों के लिए के. सुकुमारन, के. राममूर्ति, एल.एन. राव, डॉ. ए. फ्रांसिस जूलियन, सुमित कुमार, मेसर्स अरपुथम अरुणा एंड कंपनी की ओर से; एम.ए. चिन्नासामी, श्रीमती एन. शोभा, श्रीराम थलापति, एन.के. अरुलमुरुगनंधम, विकास मेहता, सुश्री इंदु मल्होत्रा, सुश्री ममता चौधरी, पी. नेदु चेज़ियान, सी. परमशिवम, आर. अय्यम पेरुमल, सेवा राम, एस. वल्लीनायगम एवं सत्य मित्र गर्ग।

न्यायालय द्वारा निर्णय सुनाया गया

एस.बी. सिन्हा, न्यायमूर्ति : इस अपील में इस प्रश्न पर विचार किया जाना है कि क्या तमिलनाडु मान्यता प्राप्त निजी स्कूल (विनियमन) अधिनियम, 1973 (जिसे इसके बाद 'अधिनियम' के रूप में संदर्भित किया गया है) की धारा 53 और 53ए के निबंधनों के तहत दीवानी न्यायालय का क्षेत्राधिकार वर्जित हो जाता है, जो मद्रास उच्च न्यायालय की एक खंडपीठ द्वारा ए.एस. संख्या 568/1998 में पारित दिनांक 13.10.1999 के निर्णय एवं आदेश से उत्पन्न हुई है, जिसके द्वारा और जिसके अधीन वर्तमान अपीलकर्ताओं द्वारा अधीनस्थ न्यायाधीश, तिरुचिरापल्ली द्वारा ओ.एस. संख्या 1994 का 1254 में पारित दिनांक 7.8.1998 के निर्णय एवं डिक्री के विरुद्ध प्रस्तुत अपील को खारिज कर दिया गया था, जिसके द्वारा वादी-उत्तरदाता के वाद को डिक्री किया गया था।

पृष्ठभूमि के तथ्य :

इस मामले में प्रथम उत्तरदाता (इसके बाद जिसे 'तपोवनम्' कहा गया है) एक पंजीकृत सोसाइटी है। इसकी स्थापना स्वामी चिद्भवानंद द्वारा की गई थी। यह वर्ष 1942 से कार्य कर रही है। उक्त स्वामी चिद्भवानंद स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद के आदर्शों का प्रचार-प्रसार किया करते थे। इसने ऊटी में कार्य करना शुरू किया और बाद में तिरुपरायथुरारी में स्थानांतरित हो गई। विभिन्न स्थानों पर कई शाखाएँ स्थापित की गईं, अर्थात् तिरुवेदागम, कोर्टालम, चित्रैचावडी, तिरुनेलवेली, कोडाईकनाल, रामनाथपुरम, रामेश्वरम, सेलम और करूर। इन सभी स्थानों पर शैक्षणिक संस्थानों और आश्रमों के साथ-साथ औषधालयों की भी स्थापना की गई। स्वामी चिद्भवानंद ने अपने जीवन काल में जनता से धन एकत्र करके विभिन्न संपत्तियां अर्जित कीं, जो न्यास (ट्रस्ट) संपत्ति की प्रकृति की थीं।

यहाँ प्रथम अपीलकर्ता कोयंबटूर की एक मिल में कर्मचारी था। वह एक साधारण सदस्य के रूप में 'तपोवनम्' में शामिल हुआ। वह 1970 में संन्यासी बन गया, जिसके बाद उसे तिरुवेदागम में एक काम सौंपा गया और बाद में वर्ष 1976 में करूर स्थानांतरित कर

दिया गया। 'तपोवनम्' ने जनता से एकत्रित किए गए दानों से तथा वैरपेरुमल न्यास और थथिनगीरेस्वरर न्यास नामक न्यासों के माध्यम से उपलब्ध धन से करूर में कई शैक्षणिक संस्थान स्थापित किए, जिनका उद्देश्य अपनी संपत्तियों को तपोवनम् को समर्पित करना था ताकि वह शैक्षणिक संस्थान स्थापित करने में सक्षम हो सके।

यह विवाद में नहीं है कि वर्ष 1987 में, यहाँ प्रथम अपीलकर्ता ने 'श्री रामकृष्ण आश्रमम् न्यास' के नाम से एक न्यास पंजीकृत कराया था। उसके द्वारा यह दावा किया गया कि करूर के सभी संस्थान उसके द्वारा स्वयं के धन के साथ-साथ उसके द्वारा व्यक्तिगत रूप से एकत्र किए गए धन से स्थापित किए गए थे। उसने अधीनस्थ न्यायाधीश, करूर के न्यायालय में एक वाद दायर किया, जिसे मूल वाद संख्या 251/1991 के रूप में अंकित किया गया, जिसमें यह घोषणा करने की मांग की गई कि वह अन्य सदस्यों के साथ वादपत्र में वर्णित छह शैक्षणिक संस्थानों की शैक्षणिक एजेंसियों के स्वामी और संस्थापक थे। उक्त वाद को वापस लेने के कारण खारिज कर दिया गया था, जिसके बाद उसने करूर के जिला मुंसिफ के न्यायालय में एक और वाद दायर किया, जिसे मूल वाद संख्या 1368/1990 के रूप में अंकित किया गया, जिसे बाद में अधीनस्थ न्यायाधीश, करूर के न्यायालय में स्थानांतरित कर दिया गया और मूल वाद संख्या 459/1991 के रूप में पुनरारंभाकित किया गया, जिसकी विषय-वस्तु दो शैक्षणिक संस्थान थे, अर्थात् पसुपतिपालयम में लड़कों के लिए श्री विवेकानंद उच्चतर माध्यमिक विद्यालय और श्री शारदा कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय। उक्त वाद में, उक्त अधिनियम के प्रावधानों के संदर्भ में 'शैक्षणिक एजेंसी' के संबंध में प्रथम उत्तरदाता (तपोवनम्) के मुकाबले प्रथम अपीलकर्ता की स्थिति के बारे में एक प्रश्न उठा।

उक्त वाद में विचारण न्यायाधीश ने निम्नलिखित विवादक विरचित किए:

(i) क्या वादी संख्या 1- न्यास प्रबंधन में था और क्या वह अस्तित्व में था?

(ii) क्या यह कानूनी रूप से गठित किया गया था?

(iii) क्या वादी वाद अनुसूची वाले संस्थानों के स्वामी थे?

(iv) क्या प्रतिवादी संख्या 1 वादपत्र अनुसूची वाले विद्यालयों की शैक्षणिक एजेंसी नहीं था?

(v) क्या वादी संख्या 2 ने प्रतिवादी संख्या 1 के अभिकर्ता के रूप में कार्य किया?

(vi) क्या प्रतिवादी संख्या 1 का वादपत्र अनुसूची वाले विद्यालयों पर कोई अधिकार नहीं था?

(vii) क्या वाद पोषणीय था?

(viii) क्या वादी मांगी गई घोषणा के स्वत्वदार थे?

(ix) वादी किस अनुतोष के स्वत्वदार थे?

उक्त वाद को अधीनस्थ न्यायाधीश, करूर के न्यायालय द्वारा दिनांक 30.4.1992 के एक निर्णय और आदेश द्वारा खारिज कर दिया गया था, जिसमें अन्य बातों के *साथ-साथ* यह अभिनिर्धारित किया गया:

(i) अपीलकर्ता संख्या 2 न्यास कानूनी रूप से गठित नहीं था और कभी अस्तित्व में नहीं था।

(ii) अपीलकर्ता संख्या 1 तपोवनम् का अभिकर्ता था और तपोवनम् प्रश्नगत विद्यालयों का स्वामी और शैक्षणिक एजेंसी था।

अपीलकर्ताओं ने इसके विरुद्ध जिला न्यायाधीश, त्रिचिरापल्ली के न्यायालय में एक

अपील दायर की, जिसे अपील संख्या 288/1992 के रूप में अंकित किया गया। उक्त अपील को भी दिनांक 17.2.1993 के एक निर्णय और आदेश द्वारा खारिज कर दिया गया था, जिसमें अन्य बातों के *साथ-साथ* निम्नलिखित निष्कर्ष दिए गए थे:

(i) प्रतिवादी 3 और 4 को प्रथम वादी न्यास के गठन में द्वितीय वादी द्वारा गुमराह किया गया था।

(ii) न्यास विलेख, प्रदर्श ए-1 साबित नहीं हुआ था, वास्तविक नहीं था और अस्तित्व में नहीं आया था।

अपीलकर्ता संख्या 1 और 2 ने इसके विरुद्ध मद्रास उच्च न्यायालय में एक द्वितीय अपील दायर की, जिसे दिनांक 28.4.1997 के एक निर्णय और आदेश द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दिया गया:

(i) यहाँ अपीलकर्ता संख्या 1 केवल तपोवनम् का अभिकर्ता था।

(ii) यहाँ अपीलकर्ता संख्या 2 अस्तित्व में नहीं आया था।

इसके विरुद्ध दायर एक पुनर्विलोकन याचिका को भी दिनांक 13.9.1999 के एक आदेश द्वारा खारिज कर दिया गया था।

उच्च न्यायालय के समक्ष उक्त कार्यवाही के लंबित रहने के दौरान, तपोवनम् ने दिनांक 6.7.1992 या उसके आसपास अधीनस्थ न्यायाधीश, करूर के न्यायालय में एक वाद दायर किया, जिसे मूल वाद संख्या 273/1992 के रूप में अंकित किया गया, जिसे बाद में अधीनस्थ न्यायाधीश, त्रिचिरापल्ली के न्यायालय में स्थानांतरित कर दिया गया और अपीलकर्ताओं तथा 13 अन्य के विरुद्ध मूल वाद संख्या 1254/1994 के रूप में पुनरारंभाकित किया गया, जिसमें यह घोषणा करने की मांग की गई कि वह उसमें अनुसूची-ए में पूर्ण रूप

से और विवरण में वर्णित वाद संपत्तियों का पूर्ण स्वामी था, और इसके अलावा वह उसमें उल्लिखित संस्थानों के संबंध में शैक्षणिक एजेंसी था। यहाँ अपीलकर्ताओं ने अपने लिखित बयान में, अन्य बातों के साथ-साथ, यह तर्क दिया कि अपीलकर्ता संख्या 2 और 3 स्वतंत्र न्यास थे और संस्थानों को स्थापित करने के लिए तपोवनम् द्वारा उनके संबंध में कोई धन नहीं दिया गया था और इसके अलावा यहाँ अपीलकर्ता संख्या 1 उसका अभिकर्ता नहीं था।

विद्वान अधीनस्थ न्यायाधीश, त्रिचिरापल्ली के समक्ष दायर उक्त वाद में निम्नलिखित विवादक विरचित किए गए थे:

"(i) क्या वादी प्रार्थना के अनुसार घोषणा और कब्जे का स्वत्वदार है?

(ii) क्या वादी प्रथम प्रतिवादी के विरुद्ध स्वयं को सचिव और संवाददाता के रूप में प्रस्तुत करने से रोकने के लिए व्यादेश का स्वत्वदार है?

(iii) क्या वादी लेखांकन अनुतोष का स्वत्वदार है?

(iv) क्या दिनांक 22.5.1987 और 15.7.1989 के समनुदेशन विलेख वादी के विरुद्ध प्रवर्तनीय हैं?

(v) क्या वादी बी-अनुसूची की संपत्तियों या प्रथम प्रतिवादी द्वारा अर्जित किसी अन्य संपत्ति का स्वामी है?

(vi) क्या अनुतोष?

(vii) क्या वाद के दावे का मूल्यांकन उचित रूप से किया गया था और क्या वादपत्र पर सही न्यायालय शुल्क का भुगतान किया गया था?"

तपोवनम् द्वारा दायर उक्त वाद को, अन्य बातों के साथ-साथ, इस आधार पर डिक्रीत

किया गया था कि पूर्ववर्ती वाद में यह निष्कर्ष कि यहाँ प्रथम अपीलकर्ता को तपोवनम् का अभिकर्ता माना गया है, अपीलकर्ताओं पर बाध्यकारी होने के कारण *प्राङ्न्याय* के सिद्धांत को आकर्षित करेगा। उच्च न्यायालय, मद्रास के समक्ष अपीलकर्ताओं द्वारा दायर एक अपील, जिसे अपील संख्या 568 वर्ष 1998 के रूप में अंकित किया गया था, को आक्षेपित निर्णय द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दिया गया कि:

(i) मूल वाद संख्या 459/1991 का पूर्ववर्ती निर्णय, जिसकी पुष्टि अपील संख्या 288/1992 और द्वितीय अपील संख्या 604/1993 में की गई थी, प्राङ्न्याय का गठन करता है।

(ii) तपोवनम् के नियमों के नियम 3 के आलोक में, अपीलकर्ता संख्या 2 और 3 की संपत्तियां स्वतः ही तपोवनम् की संपत्ति बन गईं।

(iii) दीवानी प्रक्रिया संहिता के आदेश 31 नियम 2 के अननुपालन के लिए वाद को खारिज नहीं किया जा सकता था क्योंकि यह विचारण न्यायालय के समक्ष नहीं उठाया गया था।

इस प्रकार, अपीलकर्ता हमारे समक्ष हैं।

प्रस्तुतियाँ :

अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री के. सुकुमारन ने इस अपील के समर्थन में मुख्य रूप से दो तर्क दिए। पहला, *वी. राजेश्वरी (श्रीमती) बनाम टी.सी. सरवणभव,* [2004] 1 एससीसी 551 पर अवलंबन लेते हुए, विद्वान अधिवक्ता ने तर्क दिया कि विचारण न्यायालय द्वारा *प्राङ्न्याय* के सिद्धांत की प्रयोज्यता के संबंध में कोई वादपद विरचित न किए जाने के कारण, आक्षेपित निर्णय कानूनन दूषित है। दूसरा, उक्त अधिनियम की धारा 53 और 53ए के आलोक में दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार वर्जित होने के

कारण, पूर्ववर्ती वाद में पारित निर्णय और डिक्री शून्य होने के कारण, प्राङ्न्याय का सिद्धांत लागू नहीं होगा। इस संबंध में, *मोहनलाल गोयनका बनाम बेनॉय कृष्ण मुखर्जी और अन्य,* [1953] एससीआर 377 पर अवलंबन लिया गया है।

दूसरी ओर, उत्तरदाताओं की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री एल. नागेश्वर राव ने आक्षेपित निर्णय का समर्थन करते हुए यह तर्क दिया कि यद्यपि *प्राङ्न्याय* के संबंध में कोई वादपद विरचित नहीं किया गया था, पक्षकारों ने विचारण में यह भली-भांति जानते हुए कार्यवाही आगे बढ़ाई कि ऐसा एक मुद्दा शामिल है और वास्तव में पूर्ववर्ती वाद से संबंधित सभी प्रासंगिक दस्तावेज अभिलेख पर लाए गए थे और इस मामले के परिप्रेक्ष्य में, यह नहीं कहा जा सकता कि अपीलकर्ताओं पर इससे कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

विद्वान अधिवक्ता ने आग्रह किया कि इस मामले में विद्वान अधीनस्थ न्यायाधीश के निष्कर्ष इस सर्वोच्च न्यायालय द्वारा *वी. राजेश्वरी* (उपरोक्त) में तय किए गए अपवाद के दायरे में आएंगे। यह प्रस्तुत किया गया था कि उक्त अधिनियम की धारा 53ए, उसकी धारा 53 का एक अपवाद होने के नाते, दीवानी न्यायालय के पास यह निर्धारण करने की आवश्यक क्षेत्राधिकार थी कि उक्त अधिनियम के प्रावधानों के संदर्भ में वादी या प्रतिवादी शैक्षणिक एजेंसियां थे या नहीं।

प्राङ्न्याय:

मूल वाद संख्या 1368/1990 अपीलकर्ता संख्या 1 और 2 द्वारा तपोवनम् और तीन अन्य व्यक्तियों, अर्थात् स्वामी बोधानंद, स्वामी गुहानंद और स्वामी अमलानंद के विरुद्ध दायर किया गया था।

उक्त वाद में यह स्वीकार किया गया था कि प्रथम अपीलकर्ता स्वामी चिद्भवानंद का शिष्य था। यह दावा किया गया था कि छह शैक्षणिक संस्थान, अर्थात् (1) पसुपतिपालयम,

करूर तालुक में कक्षा 1 से 5 तक का विवेकानंद प्राथमिक विद्यालय; (2) पसुपतिपालयम, करूर शहर, करूर तालुक में कक्षा 1 से 5 तक का विवेकानंद इंग्लिश स्कूल; (3) विवेकानंद उच्चतर माध्यमिक विद्यालय (बालक); (4) पसुपतिपालयम, करूर तालुक में विवेकानंद मैट्रिकुलेशन उच्चतर माध्यमिक विद्यालय; (5) पसुपतिपालयम, करूर तालुक में श्री शारदा कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, और (6) श्री शारदापुरी, करूर में महिलाओं के लिए श्री शारदा निकेतन विज्ञान महाविद्यालय, यहाँ प्रथम अपीलकर्ता द्वारा स्थापित किए गए थे, जिसमें यह आरोप लगाया गया था कि शैक्षणिक संस्थानों और आश्रमों के लिए धन भक्तों और आम जनता के दान से एकत्र किया गया था। उसने उल्लेख किया कि वह शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना के समय से ही उनका संवाददाता और सचिव था। यह तर्क दिया गया था कि तपोवनम् ने न तो उक्त संस्थानों की स्थापना की थी और न ही उनका प्रशासन किया था, और न ही उनकी स्थापना के लिए कोई धन दिया था। यह आरोप लगाया गया था कि यहाँ प्रथम अपीलकर्ता द्वारा आश्रमों, मंदिरों, स्कूलों और कॉलेजों के प्रबंधन के लिए न्यास की स्थापना की गई थी और तपोवनम् का उसके द्वारा स्थापित आश्रमों और शैक्षणिक संस्थानों पर कोई अधिकार, स्वत्व या हित नहीं था। उक्त वाद इस आधार पर दायर किया गया था कि तपोवनम् विद्यालयों की शैक्षणिक एजेंसी होने का दावा करता रहा था। उक्त वाद के लिए वाद हेतुक का उदय वादियों के आश्रम की स्थापना की तिथियों पर और विभिन्न तिथियों पर जब सभी शैक्षणिक संस्थान स्थापित किए गए थे, तथा दिनांक 17.11.1990 को भी हुआ माना गया है जब प्रतिवादियों ने शैक्षणिक संस्थानों के प्रशासन में हस्तक्षेप करने की धमकी दी थी।

तपोवनम् ने अपने लिखित कथन में अपीलकर्ताओं के उक्त दावे को न केवल अस्वीकार और विवादित किया, बल्कि उसमें शामिल संपत्तियों पर स्वयं के स्वामित्व का स्वत्व भी पेश किया। यह प्रकथन किया गया था कि तपोवनम् इन संस्थानों के संबंध में शैक्षणिक एजेंसी था।

इसलिए, पक्षकारों ने उपरोक्त वाद में, अन्य बातों के *साथ-साथ*, यहाँ प्रथम अपीलकर्ता द्वारा स्थापित किए जाने वाले कहे गए न्यास के अस्तित्व के प्रश्न पर और साथ ही विद्यालयों की शैक्षणिक एजेंसी के रूप में कार्य करने के पक्षकारों के अधिकार पर मुकदमा लड़ा। उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील संख्या 604 वर्ष 1993 में पारित अपने दिनांक 28.4.1997 के निर्णय में पक्षकारों के सभी तर्कों पर ध्यान दिया और यह अभिलिखित किया कि यहाँ अपीलकर्ताओं द्वारा यह स्वीकृति दी गई थी कि तपोवनम् ही शैक्षणिक संस्थानों के संबंध में शैक्षणिक एजेंसी था और सभी दस्तावेज उसी के नाम पर थे। यहाँ अपीलकर्ताओं के इस तर्क को खारिज कर दिया गया कि दस्तावेज अपीलकर्ता संख्या 1 द्वारा तपोवनम् के संस्थापक स्वामी चिद्भवानंद के प्रति सम्मान और अपनी निकटता के कारण तपोवनम् के नाम पर तैयार किए गए थे।

द्वितीय अपील में, उच्च न्यायालय ने आगे ध्यान दिया कि इस आशय का एक समवर्ती तथ्य-विषयक निष्कर्ष निकाला गया था कि प्रश्नगत विद्यालयों को तपोवनम् के नाम पर मान्यता दी गई थी और यहाँ तक कि उसके पदाधिकारी के नाम पर मान्यता के लिए आवश्यक आवेदन यहाँ प्रथम अपीलकर्ता द्वारा ही दायर किया गया था, जो उस समय विद्यालयों का प्रबंधक-सह-सचिव था, और न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया:

> "...यह भी स्वीकार किया गया था कि सभी आधिकारिक रिकॉर्ड प्रथम प्रतिवादी के नाम पर हैं, और यहाँ तक कि इसके लिए पत्राचार भी केवल द्वितीय वादी द्वारा ही किया गया था। यह भी विवादित नहीं है कि द्वितीय वादी इन शैक्षणिक संस्थानों के प्रबंधक-सह-सचिव के रूप में कार्य कर रहा था। विद्यालयों का निर्माण पट्टे पर ली गई भूमि पर किया गया है, और पट्टा विलेख भी प्रथम प्रतिवादी के नाम पर ही लिया गया था। इसी पृष्ठभूमि में, हमें यह विचार करना होगा कि इस

मामले में वादियों के मामले को कहाँ तक पुष्ट किया जा सकता है।"

उच्च न्यायालय ने अधिनियम के प्रावधानों के साथ-साथ न्यास अधिनियम के प्रावधानों और विशेष रूप से उसकी धारा 88 पर ध्यान दिया, और यह राय व्यक्त की:

> "...यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य के हित की रक्षा करने के लिए आबद्ध है और कोई लाभ प्राप्त करता है, तो वह लाभ भी उसी व्यक्ति को मिलना चाहिए जिसके हित की रक्षा करने के लिए वह आबद्ध है। इसलिए, भले ही संयोग से द्वितीय वादी यह तर्क दे सके कि वह स्वामी है, चूंकि वह शुरू से अंत तक केवल प्रथम प्रतिवादी-सोसाइटी के अभिकर्ता के रूप में कार्य कर रहा था, इसलिए उसके स्वामित्व के दावे को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।"

न्यायालय ने प्रश्नगत विद्यालयों के संबंध मेंस्वत्वके बारे में यहाँ अपीलकर्ताओं के तर्क को यह टिप्पणी करते हुए खारिज कर दिया:

> "अधीनस्थ न्यायालयों ने सही ढंग से यह निष्कर्ष निकाला है कि द्वितीय वादी का ऐसा कोई दावा नहीं बनता जैसा कि प्रस्तुत किया गया है और एक संन्यासी के रूप में, उसे ऐसा दावा प्रस्तुत नहीं करना चाहिए था। एक व्यक्ति जो आश्रम के हितों को बढ़ावा देने के लिए आबद्ध है और जो कहता है कि उसे उसके गुरु द्वारा इस दुनिया में लाया गया था, वह अब अपने ही हित के विरुद्ध कार्य कर रहा है। द्वितीय वादी पर जो विश्वास जताया गया था, वास्तव में उसके द्वारा उसका दुरुपयोग किया गया है। अधीनस्थ न्यायालयों ने उसके दावे को सही ढंग से खारिज किया है।"

अपने वादपत्र में, तपोवनम् ने पूर्ववर्ती वाद संस्थित किए जाने के तथ्य और यहाँ प्रथम अपीलकर्ता की इस आशय की स्वीकृति का भी व्यापक रूप से उल्लेख किया कि सभी दस्तावेज उसके नाम पर थे। यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि अपीलकर्ताओं के सभी तर्कों को यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दिया गया था कि केवल तपोवनम् ही सभी शैक्षणिक संस्थानों के संबंध में स्वामी, संस्थापक और शैक्षणिक एजेंसी था तथा यहाँ प्रथम अपीलकर्ता केवल उसका अभिकर्ता, प्रबंधक और प्रभारी व्यक्ति था। कुछ भूमियों के संबंध में यहाँ प्रथम अपीलकर्ता द्वारा अन्य अपीलकर्ताओं के पक्ष में किए गए कथित समनुदेशन पर, अन्य बातों के साथ-साथ, इस आधार पर सवाल उठाए गए थे कि पूर्ववर्ती वाद में ऐसे समनुदेशनों को अमान्य पाया गया था और यहाँ प्रथम अपीलकर्ता तपोवनम् की ओर से वैश्वासिक क्षमता में कार्य कर रहा था तथा उसका स्वयं में कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं था। उक्त वाद में, निम्नलिखित अनुतोषों की मांग की गई थी:

(क) यह अभिनिर्धारित किया जाए कि वादी वाद संपत्तियों का पूर्ण स्वामी है और अनुसूची क में वर्णित वाद संस्थानों तथा अनुसूची ख में वर्णित संपत्तियों के संबंध में शैक्षणिक एजेंसी है और कब्जे का एक परिणामी अनुतोष दिया जाए तथा प्रथम प्रतिवादी को अनुसूची क और ख में वर्णित वाद संस्थानों और संपत्तियों से संबंधित प्रभार सौंपने का निर्देश दिया जाए।

(ख) प्रथम प्रतिवादी को पिछले तीन वर्षों के लिए और वास्तविक रूप से प्रभार सौंपने तक वाद संपत्तियों से होने वाली आय के संबंध में एक सही और उचित लेखा प्रस्तुत करने का निर्देश दिया जाए।

(ग) प्रथम प्रतिवादी को स्वयं को संस्थापक, सचिव या प्रबंधक या किसी अन्य क्षमता में प्रस्तुत करके अनुसूची क और ख में वर्णित वाद संस्थानों और संपत्तियों के प्रबंधन के वादी के अधिकार में हस्तक्षेप करने से या वाद संस्थानों के

लिए और उनकी ओर से कोई भी राशि एकत्र करने से रोकने के लिए एक स्थायी व्यादेश प्रदान किया जाए।

(घ) ऐसे अन्य या आगे के अनुतोष प्रदान किए जाएं जो यह माननीय न्यायालय मामले की परिस्थितियों में उचित और ठीक समझे और न्याय प्रदान करे।

उक्त वाद के लिए वाद हेतुक को जन्म देने वाले तथ्य का उल्लेख वादपत्र की कंडिका 19 में किया गया है और वाद हेतुक का गठन करने वाले तथ्यों में से एक तथ्य पूर्ववर्ती वाद का खारिज होना और उसके बाद की वे तिथियाँ थीं जब प्रथम अपीलकर्ता ने न्यायालय के निर्णय के बावजूद वाद संस्थानों के संबंध में अवैध रूप से की गई वसूलियों को सौंपने से इनकार कर दिया था।

ऑसबोर्न की कंसाइज लॉ शब्दकोश 'वाद हेतुक' को उस तथ्य या तथ्यों के संयोजन के रूप में परिभाषित करती है जो किसी अधिकार या कार्रवाई को जन्म देते हैं।

ब्लैक्स लॉ शब्दकोश में यह कहा गया है कि वाद हेतुक की अभिव्यक्ति वह तथ्य या तथ्य हैं जो किसी व्यक्ति को न्यायिक अनुतोष का अधिकार देते हैं।

स्ट्राउड्स ज्यूडिशियल शब्दकोश में वाद हेतुक को तथ्यों का वह पूरा सेट कहा गया है जो एक प्रवर्तनीय दावे को जन्म देता है; इस वाक्यांश में हर वह तथ्य शामिल है जिसे, यदि प्रतिवाद किया जाए, तो न्यायालय का निर्णय प्राप्त करने के लिए वादी को साबित करना होगा।

इस प्रकार, वाद हेतुक का अर्थ हर उस तथ्य से है, जिसे यदि प्रतिवादित किया जाए, तो न्यायालय के निर्णय के प्रति अपने अधिकार का समर्थन करने के लिए वादी के लिए उसे साबित करना आवश्यक होगा। दूसरे शब्दों में, यह तथ्यों का संग्रह है जो उन पर लागू होने वाले कानून के साथ मिलकर वादी को प्रतिवादी के विरुद्ध अनुतोष का अधिकार देता है।

इसमें प्रतिवादी द्वारा किया गया कोई कार्य अवश्य शामिल होना चाहिए क्योंकि ऐसे कार्य की अनुपस्थिति में कोई वाद हेतुक संभवतः उत्पन्न नहीं हो सकता। यह केवल उस अधिकार के वास्तविक उल्लंघन तक सीमित नहीं है जिसके लिए मुकदमा किया गया है, बल्कि इसमें वे सभी सारभूत तथ्य शामिल हैं जिन पर यह आधारित है।

इस प्रकार, तपोवनम् के मुकाबले प्रथम अपीलकर्ता की स्थिति पूर्ववर्ती वाद में निर्धारण का विषय थी। उक्त वाद में पक्षकारों के बीच के संबंध के बारे में दिया गया निष्कर्ष यहाँ प्रथम अपीलकर्ता पर आबद्धकर है। इसी तरह, इस आशय का निष्कर्ष कि द्वितीय अपीलकर्ता का गठन अवैध रूप से किया गया था और उसने अपने नाम पर मौजूद किसी भी संपत्ति पर कोई अधिकार, स्वत्व या हित प्राप्त नहीं किया, वह भी अपीलकर्ताओं पर आबद्धकर है।

दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 11 में यथा-वर्णित प्राङ्न्याय के सिद्धांत का उद्देश्य और आशय ही उसी पक्षकारों के बीच प्रत्येक पश्चात्वर्ती वाद में तथ्य के, या कानून के, या तथ्य और कानून के पहले तय किए गए बिंदुओं पर निर्णय की अंतिमता के नियम को कायम रखना है। एक बार जब कोई मामला जो विवाद की विषय-वस्तु था, किसी सक्षम न्यायालय द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है, तो उसके बाद किसी भी पक्षकार को पश्चात्वर्ती मुकदमेबाजी में इसे फिर से उठाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। ऐसा नियम वैधानिक पुस्तक में मुकदमेबाजी को समाप्त करने के उद्देश्य से लाया गया था ताकि दूसरे पक्ष को परेशान न होना पड़े।

प्राङ्न्याय का सिद्धांत यह परिकल्पना करता है कि किसी बिंदु पर सीधे समवर्ती क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय का निर्णय किसी अन्य न्यायालय में किसी अन्य मामले में उन्हीं पक्षकारों के बीच एक अभिवाक् के संबंध में रोक पैदा करेगा, जहाँ उक्त अभिवाक् के माध्यम से उसी बिंदु को फिर से उठाने का प्रयास किया जाता है जो पूर्ववर्ती निर्णय में निर्धारित

किया गया था।

प्राङ्न्याय का सिद्धांत न केवल व्यापक जनहित में परिकल्पित है जिसके लिए यह आवश्यक है कि सभी मुकदमेबाज़ी जल्द से जल्द समाप्त होनी चाहिए, बल्कि यह समानता, न्याय और शुद्ध अंतःकरण पर भी आधारित है।

सुलोचना अम्मा बनाम नारायणन नायर, [1994] 2 एससीसी 14 में यह अभिनिर्धारित किया गया था:

> "5. दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 11 साक्ष्य के रूप में अंतिमता के नियम को समाविष्ट करती है या पूर्ववर्ती वाद में विचारित किए गए मुद्दे के अभिवाक् पर रोक लगाती है जो एक ऐसे वादपत्र पर आधारित है जिसमें मामला प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त रहा हो और अंतिम हो चुका हो। उन्हीं पक्षकारों या उनके हितों के उत्तराधिकारियों के बीच बाद के किसी वाद में जो ऐसे पश्चात्वर्ती वाद के विचारण के लिए सक्षम न्यायालय में हो, जिसमें वह मुद्दा प्रत्यक्षतः और सारतः उठाया गया हो और पूर्ववर्ती वाद के निर्णय और डिक्री में तय किया गया हो, वह प्राङ्न्याय के रूप में कार्य करेगा। धारा 11 संपत्ति में कोई अधिकार या हित पैदा नहीं करती है, बल्कि केवल एक ही मुद्दे का एक बार फिर से विचारण करने पर रोक लगाती है। दूसरे शब्दों में, इसका उद्देश्य कार्यवाहियों की बहुलता को रोकना है और एक ऐसे मुद्दे को अंतिमता प्रदान करना है, जो उन्हीं पक्षकारों या उनके हितों के उत्तराधिकारियों के बीच पूर्ववर्ती वाद में प्रत्यक्षतः और सारतः उत्पन्न हुआ था, तय किया जा चुका था और अंतिम हो गया था, ताकि पक्षकारों को एक ही बात के लिए दो बार परेशान न होना पड़े; तंग करने वाली मुकदमेबाजी समाप्त हो जाएगी और न्यायालय का बहुमूल्य समय बचेगा। यह लोक नीति के साथ-साथ निजी न्याय पर आधारित है।

> इसलिए, वे सभी न्यायिक कार्यवाहियों पर लागू होंगे चाहे वे दीवानी हों या अन्यथा। यह दीवानी न्यायालयों के अलावा अन्य अधिकरणों की अर्ध-न्यायिक कार्यवाहियों पर भी समान रूप से लागू होता है।"

अपीलकर्ताओं ने वाद में तपोवनम् द्वारा उक्त अभिवाक् उठाए जाने पर कोई आपत्ति नहीं की। चूंकि उक्त अभिवाक् को वादपत्र में पर्याप्त रूप से उठाया गया था, जिसके संबंध में यहाँ अपीलकर्ताओं को प्रतिवाद करने का पर्याप्त अवसर मिला था और इसके अलावा दोनों पक्षकारों द्वारा सभी प्रासंगिक दस्तावेजों को अभिलेख पर लाए जाने के कारण, यह नहीं कहा जा सकता कि *प्राङ्न्याय* के संबंध में वादपद विरचित न होने के कारण यहाँ अपीलकर्ताओं पर किसी भी तरह से कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

हमने इससे पहले ध्यान दिया है कि तपोवनम् ने अपने वाद में पक्षकारों के बीच के विवाद और पूर्ववर्ती कार्यवाहियों में न्यायालय के निष्कर्षों का व्यापक रूप से उल्लेख किया था। यहाँ प्रथम अपीलकर्ता ने अपने लिखित कथन में, अन्य बातों के साथ-साथ, यह तर्क दिया कि मामला न्यायाधीन था क्योंकि उस समय द्वितीय अपील न्यायनिर्णयन के लिए लंबित थी। विशेष रूप से यह कहा गया था:

> "इस प्रतिवादी ने अपील संख्या 288 वर्ष 1992 में निर्णय और डिक्री के विरुद्ध मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष द्वितीय अपील संख्या 604/93 दायर की है। द्वितीय अपील न्यायनिर्णयन के लिए लंबित है। इसलिए, यह स्पष्ट है कि संपूर्ण मामला न्यायाधीन है..."

यह आग्रह किया गया था कि जब तक द्वितीय अपील संख्या 604/1993 में न्यायनिर्णयन नहीं हो जाता, तब तक अनुसूची 'क' की संपत्तियों के संबंध में कोई अनुतोष प्रदान नहीं किया जाएगा। इसलिए, तपोवनम् ने अपने लिखित कथन में इस बात से इनकार

या विवाद नहीं किया कि तपोवनम् द्वारा दायर वाद के अवधारण के लिए जो मुद्दे आवश्यक थे, वे पूर्ववर्ती वाद में विचार के लिए उत्पन्न हुए थे। इसने अपने इस दावे को दोहराया कि वाद की संपत्तियां उसके द्वारा अपीलकर्ताओं के प्रबंध न्यासी के रूप में धारित की जा रही थीं, जिस अभिवाक् को, जैसा कि ऊपर ध्यान दिया गया है, बाद में सक्षम क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय द्वारा खारिज कर दिया गया था। विचारण न्यायालय ने मुद्दों का निर्धारण करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखा कि पूर्ववर्ती कार्यवाहियों में पक्षकारों द्वारा मुख्य रूप से जिन दस्तावेजों पर भरोसा किया गया था, उन्हें इस वाद में भी पुनरुत्पादित किया गया था और प्रदर्श के रूप में अंकित किया गया था। यह अभिनिर्धारित किया गया:

> "...इन सारभूत और अत्यंत महत्वपूर्ण दस्तावेजों के बारीक अंगों की गहरी जांच और अध्ययन स्पष्ट रूप से एक और एकमात्र निष्कर्ष की ओर इशारा करता है कि वादी-तपोवनम् के केंद्र से, बल्कि वादी-तपोवनम् द्वारा बोए गए बीजों से ही ये सभी वाद संपत्तियां उत्पन्न और विकसित हुई हैं, बेशक इसके सदस्य सेवक के रूप में प्रथम प्रतिवादी के प्रत्येक कष्ट और कठिन परिश्रम की तंत्रिका के साथ।"

न्यायालय ने यहाँ प्रथम अपीलकर्ता के साक्ष्य को अविश्वसनीय पाया। न्यायालय ने टिप्पणी की कि पूरा मामला खोखला था। न्यायालय ने प्रथम उत्तरदाता के संगम-ज्ञापन के खंड 3(ख) का संज्ञान लिया जो इस प्रकार है:

> "संन्यासी सदस्य व्यक्तिगत संपत्तियों के स्वामी नहीं होंगे। उन्हें उपहार में दी गई सभी संपत्तियां स्वतः ही तपोवनम् की संपत्ति बन जाती हैं।"

न्यायालय ने आगे गुण-दोष के आधार पर मामले पर विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि प्रथम अपीलकर्ता अपना मामला साबित करने में विफल रहा है।

वी. राजेश्वरी (उपरोक्त) में, इस न्यायालय ने प्रासंगिक अभिवाक् उठाने और उपयुक्त वादपद विरचित करने की आवश्यकता पर बल देते हुए यह टिप्पणी की:

> "12. प्राङ्न्याय का अभिवाक् कुछ तथ्यों को साबित करने और फिर इस प्रकार पाए गए तथ्यों पर कानून लागू करने पर आधारित होता है। इसलिए, यह आवश्यक है कि अभिवाक् की नींव अभिवचनों में रखी जानी चाहिए और फिर एक विवादक विरचित कर उसका विचारण किया जाना चाहिए। विचारण के चरण में अभिवचनों या वादपदों में ठीक से न उठाए गए अभिवाक् को अपील के चरण में पहली बार उठाने की अनुमति नहीं दी जाएगी [देखें *(राजा) जगदीश चंद्र देव धबल देब बनाम गौर हरि महतो, मेदापति सुरैया बनाम तोंडपू बाल गंगाधर रामकृष्ण रेड्डी और कत्रागड्डा चीना आंजनेयुलु बनाम कत्रागड्डा चीना रामैया*]। प्रिवी काउंसिल द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण को इस न्यायालय के समक्ष *पंजाब राज्य बनाम बुध दास कौशल में अनुमोदन के साथ उद्धृत किया गया था। हालांकि, इस न्यायालय द्वारा एक अपवाद निकाला गया था और अभिवाक् को उठाने की अनुमति दी गई थी, भले ही इसे अभिवचनों में नहीं लिया गया था और न ही यह किसी वादपद के अंतर्गत आता था, क्योंकि आवश्यक तथ्य पक्षकारों के ध्यान में थे और विचारण न्यायालय द्वारा उनकी जांच की गई थी। विपरीत पक्ष के पास अभिवाक् के खंडन में साक्ष्य प्रस्तुत करने का पर्याप्त अवसर था।* न्यायालय ने निष्कर्ष निकाला कि प्राङ्न्याय का बिंदु शुरू से अंत तक विचार और चर्चा में रहा था और इसलिए अभिवचनों की कमी या प्राङ्न्याय के अधित्यजन के अभिवाक् को उठाने की अनुमति नहीं दी जा सकती।"
>
> (स्वरेखांकित)

इसलिए, यह ऐसा मामला नहीं है जहाँ पर्याप्त अभिवचन नहीं थे। इसके विपरीत, यह

एक ऐसा मामला है जहाँ पूर्ववर्ती वाद में प्रस्तुत दस्तावेजों के साथ-साथ निर्णय को भी अभिलेख पर लाया गया था। निर्णय में अभिवचनों और वादपदों के कथनों के व्यापक विवरण शामिल थे जिन्हें प्राङ्न्याय के अभिवाक् को साबित करने के लिए पर्याप्त माना जा सकता था। इसके अलावा, प्रथम अपीलकर्ता ने अपने लिखित कथन में आवश्यक विवक्षा द्वारा यह स्वीकार किया कि वादपत्र की अनुसूची क में वर्णित संपत्तियों पर स्वत्व के संबंध में अभिवाक् और साथ ही तपोवनम् द्वारा अपने वाद में उठाए गए अन्य मुद्दे उच्च न्यायालय के उस समय लंबित द्वितीय अपील में आने वाले निष्कर्षों पर निर्भर करेंगे।

जिन तथ्यों का अभिवचन करना और साबित करना आवश्यक था, उनमें से एक पक्षकारों के बीच के संबंध से संबंधित है, यानी प्रथम अपीलकर्ता प्रथम उत्तरदाता का अभिकर्ता था या वह अपनी ओर से कार्य कर रहा था। ऐसा प्रश्न यहाँ प्रथम अपीलकर्ता द्वारा दायर वाद में उठाया गया था और उसका उत्तर दिया गया था। उसका यह अभिवाक् कि उसने दान एकत्र किया और प्रथम उत्तरदाता के नाम पर संपत्तियां अर्जित करने में अपना धन भी लगाया, खारिज कर दिया गया था।

इस प्रकार, पूर्ववर्ती वाद में निकाला गया निष्कर्ष, अन्य बातों के *साथ-साथ*, यह था कि प्रथम उत्तरदाता यहाँ प्रथम अपीलकर्ता का बेनामीदार नहीं था बल्कि प्रभाव और सार में उसका अभिकर्ता था।

इस न्यायालय ने हाल ही में *भानु कुमार जैन बनाम अर्चना कुमार और अन्य,* एआईआर (2005) एससी 626 में, '*प्राङ्न्याय*' और 'वादपद विबंध' के सिद्धांतों के बीच अंतर स्पष्ट करते हुए, वाद हेतुक विबंध के सिद्धांत को निम्नलिखित शब्दों में रेखांकित किया:

> "वादपद विबंध' और 'प्राङ्न्याय' के बीच अंतर है [देखें *थोडे बनाम थोडे,* [1964] 1 ऑल ईआर 341]

> प्राङ्न्याय किसी न्यायालय को विवाद का निर्धारण करने के लिए अपनी क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने से रोकता है यदि उसने पक्षकारों के बीच अंतिमता प्राप्त कर ली हो, जबकि वादपद विबंध के सिद्धांत का प्रयोग पक्षकार के विरुद्ध किया जाता है। यदि ऐसा कोई मुद्दा उसके विरुद्ध तय हो जाता है, तो उसे बाद की कार्यवाही में वही मुद्दा उठाने से विबंधित कर दिया जाएगा। प्राङ्न्याय का सिद्धांत एक अलग प्रकार का विबंध बनाता है जिसे समझौते द्वारा विबंध कहा जाता है।"

XXX XXX XXX

> उक्त मत का अनुसरण *बारबर बनाम स्टैफोर्डशायर काउंटी काउंसिल,* [1996] 2 ऑल ईआर 748 में किया गया था। वाद हेतुक विबंध तब उत्पन्न होता है जब दो अलग-अलग कार्यवाहियों में समान मुद्दे उठाए जाते हैं, जिस स्थिति में, उन्हीं पक्षकारों के बीच बाद की कार्यवाहियों से उसी प्रकार निपटा जाएगा जैसा कि पूर्ववर्ती कार्यवाहियों में किया गया था। ऐसी स्थिति में, कपट और मिलीभगत के आरोप को छोड़कर, तय किए गए सभी बिंदुओं के संबंध में रोक पूर्ण होती है। [देखें सी. (*एक अवयस्क*) बनाम *हैकनी लंदन बरो काउंसिल,* [1996] 1 ऑल ईआर 973]।

यदि पक्षकार वास्तविक रूप से शामिल मुद्दों को भली-भांति जानते हुए विचारण में गए और किसी भी प्रतिकूल प्रभाव को स्थापित किए बिना ऐसे मामले में साक्ष्य प्रस्तुत किए, तो किसी पक्षकार के लिए किसी विशेष विवादक के विरचित न होने का प्रश्न उठाना संभव नहीं होगा।

नेदुनुरी कामेश्वरम्मा बनाम संपाती सुब्बा राव, एआईआर (1963) एससी 884 में यह टिप्पणी की गई थी:

> "निस्संदेह, कोई वादपद विरचित नहीं किया गया था, और जो विरचित किया गया था, वह अधिक विस्तृत हो सकता था; लेकिन चूंकि पक्षकार एक-दूसरे के विरोधी मामले को पूरी तरह से जानते हुए विचारण में गए और उन्होंने न केवल अपने तर्कों के समर्थन में बल्कि दूसरी ओर के तर्कों के खंडन में भी सभी साक्ष्य प्रस्तुत किए, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वादपद की अनुपस्थिति मामले के लिए घातक थी, या ऐसा दोषपूर्ण विचारण हुआ था जो कार्यवाहियों को दूषित करता है। इसलिए, हमारी यह राय है कि वाद को इस संकीर्ण आधार पर खारिज नहीं किया जा सकता था, और मामले को वापस भेजने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मामले में जो साक्ष्य प्रस्तुत किए गए हैं वे सही निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए पर्याप्त हैं। हमारे समक्ष किसी भी पक्षकार ने यह दावा नहीं किया कि उसके पास पेश करने के लिए कोई और साक्ष्य है..."

हालांकि, यह किसी भी संदेह या विवाद से परे है कि यदि किसी न्यायालय में अंतर्निहित क्षेत्राधिकार का अभाव है, तो उसका निर्णय शून्य होगा और इस प्रकार, प्राङ्न्याय का सिद्धांत, जो कि प्रक्रिया के दायरे में आता है, लागू नहीं होगा। [देखें *मोहनलाल गोयनका* (उपरोक्त), *अशोक लेलैंड लिमिटेड बनाम तमिलनाडु राज्य और अन्य,* [2004] 3 एससीसी 1 और *मैनेजमेंट ऑफ मेसर्स सोनीपत कोऑपरेटिव शुगर मिल्स लिमिटेड बनाम अजीत सिंह,* (2005) 2 स्केल 151 : [2005] 3 एससीसी 232]।

ईश्वरदास बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य, एआईआर (1979) एससी 551 में, इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया:

> "...प्राङ्न्याय के अभिवाक् को पुष्ट करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दोनों मुकदमों के सभी पक्षकार साझा हों। बस इतना आवश्यक है कि मुद्दा उन्हीं

पक्षकारों के बीच या उन पक्षकारों के बीच होना चाहिए जिनके तहत वे या उनमें से कोई भी दावा करते हैं..."

अब हम श्री सुकुमारन द्वारा उद्धृत कुछ निर्णयों पर विचार कर सकते हैं।

मेसर्स आर.एन. गनेकर एंड कंपनी बनाम मेसर्स हिंदुस्तान वायर्स लिमिटेड, एआईआर (1974) एससी 303 मध्यस्थता अधिनियम के तहत एक निर्देश से संबंधित है। उक्त निर्णय मध्यस्थता अधिनियम, 1940 की धारा 33 की व्याख्या के संबंध में प्रतिपादित सिद्धांत के लिए एक प्राधिकार है। उस मामले में, न्यायालय का संबंध एक अनुबंध में शामिल मध्यस्थता खंड की वैधता से था, यदि वह अनुबंध स्वयं ही अवैध पाया जाता है।

द वल्कन इंश्योरेंस कंपनी बनाम महाराज सिंह और अन्य, एआईआर (1976) एससी 287 में, इस न्यायालय का संबंध पुनः इस प्रश्न से था कि क्या बीमा पॉलिसी के खंड 13 के तहत यहाँ के अपीलकर्ता द्वारा दायित्व को अस्वीकार किए जाने के आलोक में, किसी विवाद को मध्यस्थता के लिए संदर्भित किया जा सकता था या नहीं।

इस प्रकार, औद्योगिक विवाद अधिनियम या मध्यस्थता अधिनियम के तहत संदर्भित निर्णयों की प्रस्तुत मामले में कोई प्रयोज्यता नहीं होगी।

दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार :

अधिनियम की धारा 53 और 53ए इस प्रकार हैं:

> "53. किसी भी दीवानी न्यायालय को किसी ऐसे प्रश्न का विनिश्चय करने या उससे निपटने की क्षेत्राधिकार नहीं होगी जिसे इस अधिनियम द्वारा या इसके अधीन इस अधिनियम में उल्लिखित किसी प्राधिकारी या अधिकारी द्वारा विनिश्चित किया जाना या निपटाया जाना आवश्यक हो।"
>
> "53ए. (1) धारा 53 में किसी बात के होते हुए भी, जब कभी किसी निजी

विद्यालय के संबंध में किसी शैक्षणिक एजेंसी के गठन के बारे में, या इस बारे में कि कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का निकाय शैक्षणिक एजेंसी है या नहीं, या विद्यालय समिति के गठन के बारे में, या विद्यालय समिति के सचिव की नियुक्ति के बारे में कोई विवाद उत्पन्न होता है, तो ऐसा विवाद हितबद्ध व्यक्तियों द्वारा या सक्षम प्राधिकारी द्वारा निर्णय के लिए क्षेत्राधिकार रखने वाले दीवानी न्यायालय को संदर्भित किया जा सकता है।

(2) उप-धारा (1) के अधीन दीवानी न्यायालय को संदर्भित किसी विवाद पर उसके विनिश्चय के लंबित रहने तक, या संबंधित निजी विद्यालय के संचालन के लिए दीवानी न्यायालय द्वारा कोई अंतरिम व्यवस्था किए जाने तक, सरकार, यथास्थिति, संबंधित निजी विद्यालय के संबंध में शैक्षणिक एजेंसी, विद्यालय समिति या सचिव के कृत्यों का निर्वहन करने के लिए किसी अधिकारी को नामित कर सकती है।"

निर्विवाद रूप से अचल संपत्ति परस्वत्वसे संबंधित विवाद का न्यायनिर्णयन अकेले दीवानी न्यायालय में ही किया जाना होगा। धारा 53 केवल यह प्रतिपादित करती है कि दीवानी न्यायालय को किसी ऐसे प्रश्न का विनिश्चय करने या उससे निपटने की क्षेत्राधिकार नहीं होगी जिसे उक्त अधिनियम द्वारा या इसके अधीन उक्त अधिनियम में उल्लिखित किसी प्राधिकारी या अधिकारी द्वारा विनिश्चित किया जाना या निपटाया जाना आवश्यक हो। अधिनियम की धारा 5 पर, जिसके आधार पर श्री सुकुमारन द्वारा यह तर्क देने के लिए अवलंबन लिया गया है कि विद्यालयों की मान्यता से संबंधित मामले का विनिश्चय इसके तहत गठित प्राधिकारी द्वारा किया जाना आवश्यक है, स्वीकार नहीं किया जा सकता है। धारा 5 ऐसे विद्यालयों को चलाने की अनुमति के लिए आवेदन दाखिल करने की आवश्यकता और उसकी विषय-वस्तु के संबंध में एक प्रक्रिया निर्धारित करती है। अधिनियम की धारा 4 प्रत्येक व्यक्ति को सक्षम प्राधिकारी की अनुमति प्राप्त किए बिना कोई भी विद्यालय स्थापित करने से प्रतिबंधित करती है, सिवाय इसके कि ऐसी अनुमति में निर्दिष्ट निबंधनों और शर्तों

के अनुसार ही किया जाए।

किसी निजी विद्यालय के संबंध में वास्तविक शैक्षणिक एजेंसी कौन है, इस बात का विवाद ऐसा मामला नहीं है जो उक्त अधिनियम के प्रावधानों के संदर्भ में उक्त अधिनियम के प्रावधानों के तहत किसी प्राधिकारी द्वारा निर्धारित किया जाएगा। अधिनियम की धारा 53 ए उसकी धारा 53 का एक अपवाद प्रस्तुत करती है। उक्त प्रावधान के निबंधनों के अनुसार शैक्षणिक संस्थान से संबंधित किसी भी विवाद का विनिश्चय उसके निर्णय के लिए क्षेत्राधिकार रखने वाले दीवानी न्यायालय द्वारा किया जाना है। हालांकि, श्री सुकुमारन का तर्क यह है कि उसमें निर्दिष्ट ऐसे मामलों में हितबद्ध व्यक्तियों द्वारा या सक्षम प्राधिकारी द्वारा संदर्भ के माध्यम से दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार का सहारा लिया जाना आवश्यक है। श्री सुकुमारन यह तर्क देंगे कि ऐसा संदर्भ औद्योगिक विवाद अधिनियम के तहत लंबित किसी विवाद के सदृश होगा। हम उक्त तर्क को स्वीकार नहीं कर सकते। किसी विवाद का एक पक्षकार इसे दीवानी न्यायालय को संदर्भित करने में दूसरे पक्षकार के साथ शामिल होने से इनकार कर सकता है। पक्षकार इसके लिए सहमत हो भी सकता है और नहीं भी। दूसरे के विरुद्ध शिकायत रखने वाले व्यक्ति के पास एक उपचार होना ही चाहिए। 'उबी जूस इबी रेमेडियम' (जहाँ अधिकार है, वहाँ उपचार है) की सूक्ति कोई कोरी औपचारिकता नहीं है। दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार इस सिद्धांत का उदाहरण प्रस्तुत करती है। दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार को तब तक अपवर्जित नहीं माना जा सकता जब तक कि संविधि में स्पष्ट रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा ऐसा न कहा गया हो। अधिनियम की धारा 53 ए के निबंधनों के अनुसार, शैक्षणिक एजेंसी से संबंधित विवाद का विनिश्चय स्वीकृत रूप से दीवानी न्यायालय द्वारा किया जाना आवश्यक है। दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार का सहारा कैसे लिया जाना आवश्यक है, यह दीवानी न्यायालय द्वारा जांचा जाने वाला मामला है। किसी निजी अधिकरण या सांविधिक अधिकरण के विपरीत, जो तब तक क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं करेगा जब तक कि अधिनियम के प्रावधानों के संदर्भ में उसे कोई संदर्भ न दिया जाए,

दीवानी न्यायालय को पूर्ण क्षेत्राधिकार प्राप्त होती है। इसके अलावा, यदि और जब सक्षम प्राधिकारी के समक्ष शैक्षणिक संस्थानों के संबंध में किसी शैक्षणिक एजेंसी की पात्रता के बारे में कोई विवाद उत्पन्न होता है, तो उसे भी दीवानी न्यायालय को संदर्भित किया जाना चाहिए। अधिनियम की धारा 5 के निबंधनों के अनुसार सांविधिक प्राधिकारी के पास ऐसे विवाद को निर्धारित करने की कोई क्षेत्राधिकार नहीं मानी जा सकती। एक संविधि को, जैसा कि सर्वविदित है, इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए जिससे उसके प्रावधानों को प्रभावी बनाया जा सके। इसे युक्ति-युक्त रूप से पढ़ा जाना चाहिए। संविधि का निर्वचन इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे वह व्यावहारिक बन सके। इस प्रकार "हितबद्ध व्यक्तियों द्वारा संदर्भित" शब्दावली का अर्थ उस व्यक्ति से होगा जिसे शैक्षणिक संस्थानों की शैक्षणिक एजेंसी से संबंधित दूसरे पक्ष के दावे के संबंध में कोई शिकायत है। यह दीवानी न्यायालय के समक्ष वाद दायर करके किया जा सकता है। "व्यक्तियों" शब्द जो कि बहुवचन है, का प्रयोग इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किया गया है कि शैक्षणिक एजेंसी का केवल एक व्यक्ति होना आवश्यक नहीं है, बल्कि इसमें सोसाइटी पंजीकरण अधिनियम के तहत पंजीकृत सोसाइटी या कंपनी अधिनियम के निबंधनों के तहत एक निगमित निकाय भी शामिल हो सकता है। किसी भी स्थिति में, यदि धारा 53ए की परिकल्पना के भीतर ऐसे विवाद का विनिश्चय किसी दीवानी न्यायालय द्वारा किया जाना है, तो यह धारा 53 के तहत रोक को आकर्षित नहीं करेगा, जो केवल उसी प्रश्न पर लागू होती है जिसे अधिनियम में उल्लिखित किसी प्राधिकारी या अधिकारी द्वारा निपटाया जाना या विनिश्चित किया जाना आवश्यक हो।

हम यह ध्यान दे सकते हैं कि द्वितीय अपील खारिज होने के बाद, यहाँ अपीलकर्ताओं ने अपने पुनर्विलोकन आवेदन में दीवानी न्यायालय में क्षेत्राधिकार के अभाव के संबंध में अतिरिक्त आधार उठाने का प्रयास किया था। उक्त अभिवाक् को खारिज कर दिया गया था।

जी.पी. सिंह द्वारा लिखित 'प्रिंसिपल्स ऑफ स्टेट्यूटरी इंटरप्रिटेशन', नवम संस्करण,

पृष्ठ 630 पर यह उल्लेख किया गया है:

> "इस नियम के एक आवश्यक परिणाम के रूप में, दीवानी न्यायालयों की क्षेत्राधिकार को अपवर्जित करने वाले प्रावधानों और दीवानी न्यायालयों के अलावा अन्य प्राधिकारियों तथा अधिकरणों को क्षेत्राधिकार प्रदान करने वाले प्रावधानों का कड़ाई से निर्वचन किया जाता है। दीवानी प्रकृति के प्रश्नों का विनिश्चय करने के लिए दीवानी न्यायालयों में क्षेत्राधिकार का अस्तित्व सामान्य नियम होना और अपवर्जन एक अपवाद होना है, इसलिए यह साबित करने का भार कि किसी विशेष मामले में क्षेत्राधिकार अपवर्जित है, उस पक्षकार पर होता है जो ऐसा तर्क उठाता है। यह नियम कि दीवानी न्यायालयों की क्षेत्राधिकार के अपवर्जन का अनुमान आसानी से नहीं लगाया जाना चाहिए, इस सिद्धांत पर आधारित है कि दीवानी न्यायालय सामान्य क्षेत्राधिकार के न्यायालय हैं और लोगों को यह अधिकार है, जब तक कि वे स्पष्ट रूप से या विवक्षित रूप से वर्जित न हों, कि वे राज्य के सामान्य क्षेत्राधिकार के न्यायालयों तक मुफ्त पहुँच के लिए जोर दे सकें। वास्तव में, यह सिद्धांत केवल दीवानी न्यायालयों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि आपराधिक न्यायालयों सहित सामान्य क्षेत्राधिकार के सभी न्यायालयों पर लागू होता है..."

धुलाभाई और अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य, [1968] 3 एससीआर 662 में, मुख्य न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने दीवानी न्यायालयों की क्षेत्राधिकार के अपवर्जन से संबंधित निम्नलिखित सिद्धांतों का सारांश प्रस्तुत किया:

(क) जहाँ संविधि विशेष अधिकरणों के आदेशों को अंतिमता प्रदान करती है, वहाँ दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार को अपवर्जित माना जाना चाहिए यदि वह सब करने के लिए पर्याप्त उपचार मौजूद है जो दीवानी न्यायालय सामान्यतः एक वाद में करते हैं। हालांकि, ऐसा प्रावधान उन मामलों को अपवर्जित नहीं करता है जहाँ विशेष अधिनियम के प्रावधानों का अनुपालन नहीं किया गया है

या सांविधिक अधिकरण ने न्यायिक प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धांतों के अनुरूप कार्य नहीं किया है।

(ख) जहाँ न्यायालय की क्षेत्राधिकार पर स्पष्ट रोक हो, वहाँ प्रदान किए गए उपचारों की पर्याप्तता या सुस्पष्टता का पता लगाने के लिए विशेष अधिनियम की योजना की जांच प्रासंगिक हो सकती है, लेकिन दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार को बनाए रखने के लिए यह निर्णायक नहीं है।

जहाँ कोई स्पष्ट अपवर्जन नहीं है, वहाँ आशय का पता लगाने के लिए उपचारों और विशेष अधिनियम की योजना की जांच आवश्यक हो जाती है और इस जांच का परिणाम निर्णायक हो सकता है। उत्तरार्द्ध मामले में, यह देखना आवश्यक है कि क्या संविधि एक विशेष अधिकार या दायित्व का सृजन करती है और उस अधिकार या दायित्व के निर्धारण का प्रावधान करती है और आगे यह निर्धारित करती है कि उक्त अधिकार और दायित्व के बारे में सभी प्रश्न इस प्रकार गठित 'अधिकरणों' द्वारा निर्धारित किए जाएंगे, और क्या दीवानी न्यायालयों में कार्रवाइयों से सामान्यतः जुड़े उपचार उक्त संविधि द्वारा विहित किए गए हैं या नहीं।

(ग) विशेष अधिनियम के प्रावधानों को अधिकारतीत के रूप में चुनौती उस अधिनियम के तहत गठित अधिकरणों के समक्ष नहीं लाई जा सकती। यहाँ तक कि उच्च न्यायालय भी अधिकरणों के निर्णय से उत्पन्न पुनरीक्षण या संदर्भ पर उस प्रश्न की जांच नहीं कर सकता है।

(घ) जब प्रावधान को पहले ही असंवैधानिक घोषित कर दिया गया हो या किसी प्रावधान की संवैधानिकता को चुनौती दी जानी हो, तो वाद दायर करने का मार्ग खुला है। यदि दावा सीमा अधिनियम द्वारा विहित समय के भीतर स्पष्ट रूप से है, तो उत्प्रेषण लेख में धन वापसी का निर्देश शामिल हो सकता

है, लेकिन यह वाद को प्रतिस्थापित करने का कोई अनिवार्य उपचार नहीं है।

(ङ) जहाँ विशेष अधिनियम में संवैधानिक सीमाओं से अधिक या अवैध रूप से एकत्र किए गए कर की वापसी के लिए कोई तंत्र शामिल नहीं है, वहाँ वाद लाया जा सकता है।

(च) निर्धारण की शुद्धता के प्रश्न, उसकी संवैधानिकता के अलावा, प्राधिकारियों के निर्णय के लिए हैं और यदि प्राधिकारियों के आदेशों को अंतिम घोषित किया गया है या विशेष अधिनियम में स्पष्ट निषेध है, तो दीवानी वाद नहीं लाया जा सकता। दोनों में से किसी भी स्थिति में, विशेष अधिनियम की योजना की जांच की जानी चाहिए क्योंकि यह एक प्रासंगिक जांच है।

(छ) दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार के अपवर्जन का अनुमान आसानी से तब तक नहीं लगाया जाना चाहिए जब तक कि ऊपर निर्धारित शर्तें लागू न हों। [देखें *राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम और अन्य बनाम कृष्ण कांत और अन्य,* [1995] 5 एससीसी 75, *द्वारका प्रसाद अग्रवाल बनाम रमेश चंद अग्रवाल,* [2003] 6 एससीसी 220, *साहेबगौड़ा बनाम ओगेप्पा,* [2003] 6 एससीसी 151 और *ध्रुव ग्रीन फील्ड लिमिटेड बनाम हुकम सिंह,* [2002] 6 एससीसी 416]।

यह मामला उक्त शर्तों को पूरा नहीं करता है और अधिनियम की धारा 53 और 53ए के कारण दीवानी न्यायालय की क्षेत्राधिकार अपवर्जित नहीं थी।

मठ सौना और अन्य बनाम केदार नाथ उर्फ उमा शंकर और अन्य, एआईआर (1981) एससी 1878 के इस न्यायालय के निर्णय पर अपीलकर्ता द्वारा लिया गया अवलंबन पूरी तरह से त्रुटिपूर्ण है। उस मामले में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि क्या महंत के कब्जे वाली संपत्तियां मठ की थीं या व्यक्तिगत, इसका विनिश्चय मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर किया जाना था।

उपरोक्त कारणों से, हमें इस अपील में कोई गुण-दोष नहीं दिखता है, जिसे तदनुसार खारिज किया जाता है। हालांकि, मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए, खर्च के संबंध में कोई आदेश नहीं होगा।

2000 का दीवानी अपील संख्या 3740

यह अपील उच्च न्यायालय द्वारा अपने निर्णय की कंडिका 50 में की गई कुछ टिप्पणियों के विरुद्ध दायर की गई है। 2002 का दीवानी अपील संख्या 2395 के खारिज होने के आलोक में, यह अपील भी विफल होती है और तदनुसार खारिज की जाती है।

अपीलें खारिज की गईं।

बी.बी.बी./-

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नही किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।